३१

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में कर्म एवं पुनर्जन्म की अवधारणा

☐ डॉ० देवदत्त शर्मा

जैन दर्शन में कर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कर्म अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध हैं। वे समूचे लोक में जीवात्मा की अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों के द्वारा उसके साथ बंध जाते हैं। यह उनकी बंध्यमान अवस्था है। बंधने के बाद उनका परिपाक होता है। यह सत् (सत्ता) अवस्था है। परिपाक के बाद उनसे सुख-दुःख एवं कर्मानुसार अच्छा-बुरा फल मिलता है। यह कर्मों की उदयमान (उदय) अवस्था है।

जैन दर्शन की मान्यताओं के अनुसार जीव कर्म करने में स्वतंत्र है किन्तु कर्मफल भोगने में परतंत्र है। अर्थात् फल देने की सत्ता कर्म अपने पास सुरक्षित रखता है। इस प्रकार जीव जो भी शुभाशुभ कर्म करता है उसके फल को भोगना आवश्यक है।

पुद्गल द्रव्य की अनेक जातियाँ हैं जिन्हें जैन दर्शन में वर्गणाएँ कहते हैं। उनमें एक कार्मण वर्गणा भी है और वही कर्म द्रव्य है। कर्म द्रव्य सम्पूर्ण लोक में सूक्ष्म रज के रूप में व्याप्त है। वही कर्म द्रव्य योग के द्वारा आकृष्ट होकर जीव के साथ बद्ध हो जाते हैं और कर्म कहलाने लगते हैं। ये जीव के अध्यवसायों और मनोविकारों की तरतमता के कारण अनेक प्रकार के हो जाते हैं। परन्तु स्वभाव के आधार पर कर्म के आठ विभाग किये जा सकते हैं जो इस प्रकार हैं—१. ज्ञानावरण, २. दर्शनावरण, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयुष्य, ६. नाम, ७. गोत्र तथा ८. अन्तराय।

जो कर्म-पुद्गल हमारे ज्ञान तन्तुओं को सुप्त और चेतना को मूच्छित बना देते हैं, वे ज्ञानावरणीय कर्म कहलाते हैं। ये पाँच प्रकार के हैं—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यायज्ञानावरण तथा केवलज्ञानावरण। जो कर्म आत्मा के दर्शन गुण का बाधक हो वह दर्शनावरण कहलाता है। यह नौ प्रकार का होता है। सुख-दुःखानुभूति वेदनीय कर्म के द्वारा होती है। सम्यक् दर्शन का प्रादुर्भाव न होने देना या उसमें विकृति उत्पन्न करना मोहनीय कर्म का काम है। इसके अट्ठाईस भेद हैं। आयु कर्म जीव को मनुष्य, तिर्यञ्च, देव और नारकी के शरीर में नियत अवधि तक कैद रखता है। प्राणी

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सृष्टि में जो आश्चर्यजनक वैचित्र्य परिलक्षित होता है, वह नाम कर्म के कारण है तथा जिस कर्म के प्रभाव से जीव प्रतिष्ठित अथवा अप्रतिष्ठित कुल में जन्म लेता है, वह गौत्रकर्म है। अभीष्ट की प्राप्ति में व्यवधान डालने वाला अन्तराय कर्म है।

जैन दर्शन में कर्मों की दस मुख्य अवस्थाएँ या कर्मों में होने वाली दस मुख्य क्रियाएँ बतलाई गई हैं जिन्हें 'करण' कहते हैं। ये दस अवस्थाएँ हैं—बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण, सत्ता, उदय, उदीरणा, संक्रमण, उपशम, निधत्ति और निकाचना।

कर्म पुद्गलों का जीव के साथ सम्बन्ध होने को बन्ध कहते हैं। कर्म की यह प्रथम अवस्था है। इसके बिना अन्य कोई अवस्था नहीं हो सकती। इसके चार भेद हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। स्थिति और अनुभाग के बढ़ने को उत्कर्षण कहते हैं और स्थिति और अनुभाग के घटने को अपकर्षण कहते हैं। इस उत्कर्षण और अपकर्षण के कारण ही कोई कर्म शीघ्र तो कोई विलम्ब से, कोई तीव्र तो कोई मन्द फल प्रदान करता है। यदि कोई जीव बुरे कर्मों का बंध्य हो जाने के उपरान्त भी अच्छे कर्म करता है तो पूर्व में बंधे बुरे कर्मों की फलदान शक्ति अच्छे कर्मों के प्रभाव से घट जाती है। यदि कोई जीव बुरे कर्मों का बन्ध करके और बुरे कर्म करता है तो पहले बाँधे हुए बुरे कर्मों की शक्ति अधिक बढ़ जाती है। इसी प्रकार यदि पहले अच्छे कर्मों का बंध करके बुरे कर्म करता है तो शुभ कर्मों का फल घट जाता है।

कर्मों का बन्धन हो जाने के तुरन्त बाद ही कोई कर्म अपना फल प्रदान नहीं करता। इसका कारण यह है कि बन्धने के बाद कर्म सत्ता में रहता है। दूसरे शब्दों में कर्मों के बन्ध होने और उनके फलोदय होने के बीच कर्म आत्मा में विद्यमान रहते हैं। जैन शास्त्रों में इस अवस्था को 'सत्ता' कहा गया है। कर्म के फल देने को उदय कहते हैं। यह दो तरह का होता है—फलोदय और प्रदेशोदय। जब कर्म अपना फल देकर नष्ट हो जाता है तो वह फलोदय होता है और जब कर्म बिना फल दिये ही नष्ट हो जाता है तो उसे प्रदेशोदय कहते हैं।

नियत समय से पहले कर्मों का विपाक हो जाना उदीरणा कहलाता है। जैसे अकाल मृत्यु आयुकर्म की उदीरणा है। एक कर्म का दूसरे सजातीय कर्मरूप हो जाने को संक्रमण कहते हैं तथा कर्म को उदय में आ सकने के अयोग्य कर देना उपशम है। कर्मों का संक्रमण और उदय न हो सकना निधत्ति है तथा उसमें उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण और उदीरणा का न हो सकना निकाचना है।

जो कर्म आत्मा की जिस शक्ति को नष्ट करता है उसके क्षय से वही

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

शक्ति प्रकट होती है। यथा—ज्ञानावरण के हटने से ग्रनन्त ज्ञान शक्ति प्रकट होती है। इस परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि प्रत्येक क्रिया का कोई-न-कोई फल अवश्य होता है। यदि किसी प्राणी को वर्तमान जीवन में किसी क्रिया का फल प्राप्त नहीं होता तो भविष्यकालीन जीवन ग्रनिवार्य है। कर्म का कर्ता एवं भोक्ता निरन्तर ग्रपने पूर्व कर्मों का भोग तथा नवीन कर्मों का बन्ध करता रहता है। कर्मों की इस परम्परा को वह सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र के द्वारा तोड़ भी सकता है। जन्मजात व्यक्ति भेद, सुख-दुःख तथा ग्रसमानता सब कर्मजन्य है। कर्म बन्ध का कारण प्राणी की रागद्वेष जन्य प्रवृत्ति है। ग्रतः कर्मबन्ध एवं कर्मयोग का अधिष्ठाता प्राणी स्वयं है। नवीन कर्मों के उपार्जन का निरोध तथा पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय करके कर्मबन्ध से मुक्त हुग्रा जा सकता है।

कर्म प्रवाह रूप से अनादि है। जब से जीव है तब से कर्म हैं। दोनों अनादि हैं। परिपाक-काल के बाद वे जीव से ग्रलग हो जाते हैं। आत्म-संयम से नये कर्म चिपकने बन्द हो जाते हैं। पिछले चिपके हुए कर्म तपस्या के द्वारा धीरे-धीरे निर्जीण हो जाते हैं। नये कर्मों का बन्ध नहीं होता, पुराने कर्म टूट जाते हैं। तब यह ग्रनादि प्रवाह रुक जाता है—ग्रात्मा मुक्त हो जाती है। जब तक आत्मा कर्म-मुक्त नहीं होती है तब तक उसकी जन्म-मरण की परम्परा नहीं रुकती।

जैन दर्शन की इन मान्यताग्रों के परिप्रेक्ष्य में यदि हम आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों पर दृष्टि निक्षेप करें तो हम पाते हैं कि इस कर्मवाद एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त से, जो भारतीय संस्कृति का एक अंग है, महाकाव्यकार भी अछूते नहीं रहे। यही कारण है कि इस सिद्धान्त का निरूपण अनेक महाकाव्यों में स्थान-स्थान पर हुग्रा। उदाहरण के लिए मैथिली शरण गुप्त **'जय भारत'** में कहते हैं—

"कर्मों के अनुसार जीव जग में फल पाता।"

(पृ० २६४)

ताराचन्द हारीत ग्रपने महाकाव्य **'दमयन्ती'** में उक्त स्वर को ही भास्वरता प्रदान करते हुए कहते हैं—

"निज कर्मों के अनुसार जीव फल पाता।"

(पृ० २५६)

जीव जो भी शुभाशुभ कर्म करता है उसके फल को भोगना ग्रावश्यक है। **'परम ज्योति महावीर'** महाकाव्य में कर्मवाद के इसी तथ्य को निरूपित करता हुआ कवि कहता है—

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

"उसको वैसी गति मिलती है,
जो कर्म बान्धता जैसा है ।
होता है जैसा बीज वपन,
फल भी तो मिलता वैसा है ।" (पृ० ४६६)

जीव के शुभाशुभ कर्म ही जन्म जन्मान्तर तक उसके साथ रहते हैं । इस परि-सन्दर्भ में डॉ० रत्नचन्द्र शर्मा अपने महाकाव्य **'निषाद राज'** में कहते हैं—

"पाप पुण्य दोनों को कहते,
मुनिवर जन्म–जन्म का साथी ।" (पृ० २०)

इस संदर्भ में **'शिवचरित'** महाकाव्यकार निरंजनसिंह योगमणि की स्पष्टोक्ति तो और भी ध्यातव्य है—

"जन्म–जन्म का कारण कर्म,
शुभाशुभ कर्मों का फल देत्र ।
होते ये निश्चय ही प्राप्त,
ब्रह्म शक्ति से देय सदैव ।।" (पृ० ६२)

पुण्य कर्मों का फल सुख प्रदायक होता है वहाँ पाप कर्मों का फल अशुभ एवं दुःख प्रदायक होता है । इस तथ्य को पंडित अनूप शर्मा अपने महाकाव्य **'सिद्धार्थ'** में निरूपित करते हुए कहते हैं—

"मनुष्य की जो गति है शुभाशुभ,
विपाक है सो सब पूर्व कर्म का ।" (पृ० २३५)

त्रिवेदी रामानन्द शास्त्री अपने महाकाव्य **'मृगदाव'** में उक्त अभिमत की ही संपुष्टि करते हुए कहते हैं—

"पर अब पछताने से न है लाभ कोई,
सब निज कृतकर्मों को यहाँ भोगते हैं ।
(पृ० २०१)

महाकवि पोद्दार रामावतार **'अरुण'** का तो स्पष्ट अभिमत है कि वर्तमान जीवन पूर्व जन्म के कर्मों का ही प्रतिफलन है । वे अपने महाकाव्य **'महाभारती'** में कहते हैं—

"मनुज का वर्तमान अस्तित्व,
पूर्व का प्रतिबिम्बित परिणाम ।"
(पृ० १११)

किसी भी कर्म का फल जीव को वर्तमान जीवन में नहीं तो दूसरे जन्म में अवश्य मिलता है । ये फल जीव को जन्म-जन्मान्तर तब तक मिलते रहते हैं जब तक कि वह अपनी आत्मा को कर्म बन्धनों से मुक्त न करले । पूर्व-पूर्व जन्मों में किये गये कर्मों के फलों को भोगने के लिए ही बराबर इस संसार में जीव का आना होता है । जीव अपने कर्मों का फल भोगने के लिए निरन्तर जन्म लेता रहता

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

है । इसी मान्यता को अभिव्यक्ति प्रदान करते हुए नन्दकिशोर झा अपने महाकाव्य **'प्रिय मिलन'** में कहते हैं—

"क्लेश–मूल कर्माशय, बन्धन में बन्धा जीव ।
जन्मता औ मरता, उसे कभी न विराम है ।।"
(पृ० ३१०)

जब तक जीवात्मा कर्म बन्धनों से मुक्त नहीं हो जाती उसे बार-बार जन्म लेना पड़ता है—

"जब तक न कर्म हो जाते हैं,
सम्पूर्णतया निर्मूल यहाँ ।
तब तक होता है पुनर्जन्म,
निज कर्मों के अनुकूल यहाँ ।"
(परम ज्योति महावीर, पृ० ४६१)

रघुवीर शरण **'मित्र'** पुनर्जन्म विषयक उक्त अवधारणा में ही आस्था प्रकट करते, हुए कहते हैं—

"जब तक कर्मों के बन्धन हैं,
मिलता रहता है जन्म नया ।"
(वीरायन, पृ० १३८)

जीव को जीवन-मरण से तब तक मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती जब तक कि वह अपने कर्मों का क्षय नहीं कर लेता—

"जब–तक न कर्म क्षय होते हैं,
तब तक होता अवतरण–मरण ।
कर्मों के क्षय होते ही तो,
कर लेती इसको मुक्ति वरण ।।"
(परम ज्योति महावीर, पृ० ४७८)

दिनकर के **'उर्वशी'** महाकाव्य की निम्नांकित पंक्ति भी कवि की पुनर्जन्म में आस्था की द्योतक है—

"कब, किस पूर्व जन्म में उसका क्या सुख छीन लिया था ।"
(पृ० ३१)

कर्म एवं पुनर्जन्म की उक्त अवधारणा का भारतीय जन-जीवन पर इतना व्यापक प्रभाव पड़ा है कि प्रत्येक महाकाव्यकार ने इसे किसी-न-किसी रूप में स्वीकार किया है । यही कारण है कि हिन्दी के अधिकांश महाकाव्यों में उक्त अवधारणा का निरूपण हुआ है । उक्त विवेचित महाकाव्यों के अतिरिक्त 'नल नरेश' (पृ० २३२), 'विदेह' (पृ० ६६), 'आंजनेय' (पृ० २०-२२) 'कल्पान्त' (पृ० ६२), 'जानकी जीवन' (पृ० १६६-६७), विरहिणी' (पृ० २६), 'मीरा' (पृ० ३०) तथा 'तीर्थंकर महावीर' (पृ० १०५) प्रभृति महाकाव्यों में भी कर्म एवं पुनर्जन्म के प्रति आस्था की स्पष्ट झलक परिलक्षित होती है । □

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

मुक्तक

अपने उपार्जित कर्म फल को, जीव पाते हैं सभी,
उसके सिवाय कोई किसी को, कुछ नहीं देता कभी।
ऐसा समझना चाहिये, एकाग्रमन होकर सदा।
दाता अपर है भोग का, इस बुद्धि को खोकर सदा।

दोहा

चिट्ठी लायो चून की, माँगे घी नैं दाल,
दास कबीरा यूँ कहें, थारी चिट्ठी सामी भाल।

कायसा वयसा मत्ते, वित्ते गिद्धे य इत्थिसु।
दुहओ मलं संचिणइ, सिसुणागुव्व मट्टियं॥
—उत्तराध्ययन ४।१०

अर्थ—काया से, वचन से और मन से मदान्ध बना हुआ तथा धन और स्त्रियों में आसक्त बना हुआ अज्ञानी दोनों प्रकार से (राग-द्वेषमयी बाह्य और आभ्यन्तर प्रवृत्तियों द्वारा) कर्म मल का संचय करता है। जैसे अलसिया मिट्टी खाता है और उसे शरीर पर भी लगाता है।

जह मिडलेवलित्त गरुयं तुम्बं अहे वयइ,
एवं आसव कय कम्म जीवा वच्चति अहरगइं।
तं चेव तव्विमुक्कं जलोवरि गइ जाय लहुभावं,
जह तह कम्म विमुक्का लोयगा पइठिया होंति॥

अर्थ—जिस प्रकार मिट्टी से लिप्त तुम्बा भारी होकर नीचे चला जाता है उसी प्रकार जीव कर्मों के लेप से लिप्त हो भारी बन कर अधोगति को प्राप्त होता है। वही तुम्बा मिट्टी के लेप से मुक्त होकर लघुता को प्राप्त होता हुआ जल के ऊपरी सतह पर आ जाता है। जीव भी इसी प्रकार कर्म मुक्त होने पर लोक के अग्रभाग पर प्रतिष्ठित हो जाता है।

यथा धेनु सहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वं कृतं कर्म, कर्तारमनुगच्छति॥

अर्थ—जिस प्रकार गौ वत्स हजारों गायों में भी अपनी माता को पहिचान लेता है, उसी प्रकार कर्ता के पूर्व कृत कर्म भी उसका ही अनुसरण करते हैं (अन्य का नहीं) अर्थात् कर्मों का कर्ता ही उसके फल का भोक्ता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org